International Journal of Research
Special Issue for UGC Approved Journal-Hindi Papers
Available at https://edupediapublications.org/journals
e-ISSN: 2348-6848
p-ISSN: 2348-795X
Volume 04 Issue 15
November 2017

पूर्व मध्यकालीन उत्तर भारत में जाति एवं वर्ण व्यवस्था का अध्ययनः एक समीक्षा (700 से 1200ई.)

मनुदेव

M. Phil & NET, इतिहास विभाग

म0द0वि0, रोहतक (हरि0)

शोध आलेख सारः इस शोध पत्र में पूर्व मध्यकालीन (700–1200ई.) के मध्य में भारत में जाति एवं वर्ण व्यवस्था के विकास पर प्रकाश डाला गया है जो इस पत्र का मुख्य उद्देश्य है। इस अध्ययन के लिए विभिन्न लेखकों द्वारा वर्णित विषय सामग्री की सहायता ली गई है। इस सन्दर्भ में जातियों के उद्भव की व्याख्या करने के लिए नरूल सम्बन्धी और पेशगर्त कारकों (Professional Indicators) को आधार मानते हुए, भारतीय जन मानस की मूलतः विशिष्टता वादी नैसर्गिक प्रवृति को भी इसका कारण माना है। अतः ब्राह्मणों ने अलगाव या निषेध का सिद्धान्त पहले शुद्रों पर, फिर अन्य सभी वर्णों पर क्रियान्वित किया गया, जिसके परिणाम स्वरूप है। जाति का प्रादुर्भाव हुआ था, जो वर्तमान समय तक विद्यमान है।

कुंजी शब्दः जाति व वर्ण व्यवस्था, पेशेगत कारक, भारतीय जन मानस, अलगाव या निषेध सिद्धान्त, जातियों का प्रादुर्भाव।

परिचयः गुप्तकाल के पश्चात् भारतीय समाज में परिवर्तन आना प्रारम्भ हो गया था, परन्तु इस बात को स्पष्ट रूप से प्रकट करना, इतना सरल नहीं था कि भारत में प्राचीन काल का अन्त और मध्यकाल का आरम्भ होना शुरू हो गया। इस का कारण यह भी है कि मध्यकाल की अवधारणा के सम्बन्ध में विद्वानों का दृष्टिकोण उतना स्पष्ट नहीं है, जितना आधुनिक काल के सम्बन्ध में है। राखलदास बनर्जी, रमेशचन्द्र, मजुमदार, के.एल.नीलकण्ठ शास्त्री तथा रामाशंकर त्रिपाठी जैसे विख्यात विद्वानों द्वारा

e-ISSN: 2348-6848
p-ISSN: 2348-795X
Volume 04 Issue 15
November 2017

प्राचीन भारत पर लिखी पुस्तकों के अनुसार, यह समय सीमा 1206 ई0 तक सीमित रही है।

डॉ. आर.एस. शर्मा का अभिमत है कि अंततः जिस चीज ने प्राचीन भारतीय समाज को मध्यकालीन समाज में रूपांतरित किया है, वह थी भूमि अनुदान की प्रथा। विभिन्न शासकों द्वारा जारी किए गए अधिकारों पत्रों से ज्ञात होता है कि पुरोहितों और पुजारियों को भूमिदान पुण्य अर्जित करने के लिए दिए जाते थे। यह भूमि अनुदान प्रथा सामंती अर्थ व्यवस्था का आधार बनी और अतः प्राचीन भारत को मध्यकालीन भारत का रूप दिया।

सातवीं शताब्दी से भारत की राज्य व्यवस्था, अर्थव्यवस्था और उसके समाज तथा जीवन के अन्य क्षेत्रों में कुछ बुनियादी परिवर्ततन हुए, जैसे राज्य, वर्ण जाति पर आधारित समाज तथा पितृ सत्तात्मक परिवार ये सभी संस्थाऐं दोनों कालों में व्यवस्थित रूप में कार्य कर रही थी। भारत के पूर्ण मध्य युग में ऐसे तत्व भी उत्पन्न व विकसित होने शुरू हो गए थे, जिसके फलस्वरूप देश में समाज, धर्म तथा संस्कृति में ह्रास के चिन्ह, स्पष्ट रूप से प्रकट होने प्रारम्भ हो गए थे। इस विषय 700 से 1200 ई0 का उत्तर भारत चक्रवर्ती क्षेत्र का संकोच, राजपूत शब्द से अभिहित नवीन राजवंशी के अभ्युदय, सामन्तवाद प्रथा का प्रचलन प्रारम्भ हो गया था। इनके फलस्वरूप नये गांवों की स्थापना के कारण गांवों की संख्या में वृद्धि तथा वैदिक मूल्यो का ह्रास, मुस्लिम आक्रमण, व्यापार–वाणिज्य तथा नगरों का पतन, बन्द अर्थव्यवस्था एवं गतिशीलता का अभाव एवं ग्राम संस्कृति का उत्कर्ष आदि विशेषताऐं अपनी उपस्थिति दर्ज करती है।

अतः 700 से 1200ई तक के समय में पूर्व मध्यकालीन, उत्तर भारतीय, समाज में राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक क्षेत्रों विभिन्न विस्मयकारी परिवर्तन हुए, जिन्होंने तद्युगीन जातीय एवं वर्ण व्यवस्था को भी प्रभावित किया। विभिन्न कारकों के आधार पर, जातीय एवं वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति, सिद्धान्त एवं

e-ISSN: 2348-6848
p-ISSN: 2348-795X
Volume 04 Issue 15
November 2017

ऐतिहासिक विकास का विश्लेषण किया गया है। इसके पश्चात् आठवीं से बारहवीं शताब्दी के मध्य हुए सामाजिक परिवर्तन के अन्तर्गत जातीय एवं वर्ण व्यवस्था में आये परिवर्तनों के कारकों की सहायता से कारण प्रभाव सम्बन्ध का समीक्षात्मक अध्ययन किया गया है। अंत में पूर्व मध्यकाल में परिवर्तनशील, सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक परिवेश से उत्पन्न संकट के कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों व शूद्रों के कार्यों के परिवर्तन को स्पष्ट रूप से दर्शाया गया है।

शोध पत्र का उद्देश्य:

इस शोध पत्र का मुख्य उद्देश्य पूर्व कालीन (700 से 1200ई0) के मध्य में भारत में जाति एवं वर्ण व्यवस्था को 'कारण परिणाम' के सम्बन्ध को स्थापित करना है। यह सम्बन्ध विभिन्न पेशेगत कारकों द्वारा जाति प्रथा की व्याख्या करना, इस पत्र का दूसरा उद्देश्य है। तीसरा उद्देश्य, भारतीय जनमानस की मूलतः विशिष्टतावादी नैसगिर्क वर्णीकरण का मुख्य कारण माना जाता रहा है।

शोध विधि:

पूर्व मध्यकालीन उत्तर भारत में जाति एवं वर्ण व्यवस्था के अध्ययन में प्राचीनकाल के विभिन्न ग्रन्थों में दिये गए। विभिन्न स्रोतों द्वारा संकल्न करके, उनको साक्ष्य मानकर इस जाति या वर्गीकरण की व्याख्या की गई है। यह वर्गीकरण इस काल में प्रचलित विभिन्न पेशेगत कारकों को आधार मान कर जातीय व्याख्या की गई है।

इन कारकों के आधार पर पूर्व मध्यकालीन भारत में जाति एव वर्ण व्यवस्था का समीक्षात्मक वर्णन बहुआयामी पद्धति द्वारा विश्लेषण करना अति आवश्यक है। इस सन्दर्भ में पूर्व मध्यकाल के विभिन्न अध्ययनों द्वारा कुछ तथ्य निकाले गए हैं। इन तथ्यों के आधार पर यहाँ मध्यकालीन से पूर्व तथा 700ई से पहले के अध्ययनों से यह पता

चलता है कि विचारधारा में कुछ अन्तर नजर आता है। इस सन्दर्भ में यह बात सामने आई है कि पुरातत्व परम्परावादी विचारधारा का प्रभाव वैदिक विचारधारा पर व्यापक रूप से पड़ा है। जो मानदण्ड, मनुस्मृति या धर्मशास्त्र साहित्य में दिये गये है, वे वैदिक परम्परावादी विचारधारा से व्यापक रूप से मेल खाते हैं, परन्तु यह विचारधारा इस काल की समकालीन लेखकों की विचारधारा से भिन्न है। यह सभी लेख जो मुख्यः मनुस्मृति की ही व्याख्या है। जो समय के साथ सुधार और कभी–कभी शास्त्रों का प्रतिस्थापन ही एक स्वरूप है। यह मस्काटि व्याख्या है, जो नारा दिया मनुसंहिता तथा विजनाने स्वारा का जिमूत्याहाना पर प्रभाव का ही स्वरूप है।

इन चार वर्णों में पहली बात जो सामने उभर कर आई है। इन चार वर्णों में से कोई भी एक आदर्श तस्वीर सामने उभर कर आई प्रतीत नहीं होती जो समाज को विभाजित रूप से प्रकट कर सके। यह केवल समाज को दो भागों में ही विभाजित करती है। द्वीजा (ब्राह्मण) व अद्वीजा (शुद्र) – इस वर्गीकरण में क्षत्रिय तथा वैश्य, जातियों का कोई स्थान नहीं नजर आता। यह अवस्था केवल पूर्व मध्यकालीन भारत में ही दृष्टिगोचर होती है।

विभिन्न लेखन कार्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्ण प्रणाली इस काल में समाज की धुरी बन चुकी थी। वर्ण और जाति एक दूसरे के प्रतिस्थापन के रूप में प्रयोग किया जाता था। कानून बनाने वाले इस बात से परिचित थे कि विभिन्न समुदायों में विवाह शादियों से होने वाली सन्तानें अपनी ही जातियों का विशेष पहचान बनाने के लिए यत्नशील रहती थी।

इस बात की आवश्यकता यह थी कि विभिन्न बस्तियाँ भी ब्राह्मण के इस मॉडल के अनुरूप ही जानी जाती थी। ये बस्तियां जातियों से जुड़े विभिन्न धंधों के आधार पर ही आश्रित होती थी। क्योंकि विशेष धंधा एक विशेष जाति से प्रत्यक्ष रूप से जुड़ा होता था। इस सन्दर्भ में एक विशेष रूचि की बात यह है कि इन सामुदायिक समूहों में भी

e-ISSN: 2348-6848
p-ISSN: 2348-795X
Volume 04 Issue 15
November 2017

प्रादेशिक तथा स्थानीय स्तर पर भी विषमता होती थी। लिखित सामग्री से इस बात का भी संकेत नहीं मिलता कि इस के लिए कोई समान संहिता नहीं मिलती तथा इस विषय में व्यापक तौर पर विषमता पाई जाती है।

इस काल में ब्राह्मणों को समाज में उच्चतम दर्जा दिया जाता था, जो समाज में सबसे पढा–लिखा व्यक्ति माना जाता था। वह समाज में सबसे अधिक पढा–लिखा होने के कारण वेदों और पुराणों की व्याख्या करने का अधिकार रखता था। पुजारियों के उपवर्ग में – 1. देवा 2. मुनी 3. द्वीजा 4. राजा 5. वैश्य 6. शुद्र 7. मर्जारा 8. बीस्ट 9. मलेच्छ

10. चाण्डाल

राष्ट्रकूता चार्टर (926 AD) के अनुसार ब्राह्मणों को पांच भागों में बांटा गया है।

1. सारस्वत, जिनका उद्गम स्थान सरस्वती नदी के प्रदेश से सम्बन्धित है। 2. कन्याकुंज जो कन्नोज स्थान से सम्बन्धित है। 3. उत्कला, जिनका निकास उड़ीसा प्रदेश से सम्बन्धित है। 4. मिथिला, जिसका उद्गम स्थान उत्तरी बिहार है तथा गौड़ ब्राह्मण। आगे बंगाल प्रदेश के ब्राह्मणों को दो भागों में बांटा गया है– राधिया और वरेन्द्र जो प्रादेशिक विशेषिता को स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

मनु संहिता के अनुसार किसी अपराध के होने पर ब्राह्मणों को मौत की सजा माफ होती थी और उनसे केवल आर्थिक दण्ड लिया जाता था। इसके विपरीत विजनेश्वर, जो यजनावाल्किया के विख्यात व्याखाकाट थे, के अनुसार यदि ब्राह्मण अपराधी है और वह स्वयं को निदोर्ष सिद्ध करने में असफल रहता है तो वह पूरे दण्ड का भागीदार होता था।

क्षत्रियः जैसा कि धर्मशास्त्र में क्षत्रिय की आदर्श परिभाषा दी थी, वह कुछ अलग रूप से प्रकट की गई थी। वह उदगम् स्थान से अलग थी। इसके विपरीत यह प्रवृति क्षत्रीय के परिभाषा को अलग रूप से नस्ल अर्थात पीढी का उद्गम स्थान क्या है,

e-ISSN: 2348-6848
p-ISSN: 2348-795X
Volume 04 Issue 15
November 2017

यह बात अधिक महत्वपूर्ण थी। जो क्षत्रिय होने का दावा करता था। वर्तमान सन्दर्भ में, इस बात की पुष्टी होती है कि पश्चिमी भारत में सामाजिक एवं राजनैतिक प्रक्रिया जो राजपूत स्तर को प्राप्त करने के लिए, इन शक्तियों का सहारा लिया था। इस विषय में सक्षम रूप से निरीक्षण करने पर यह पता चलता है कि इसका सम्बन्ध सूर्यवंश या चन्द्रवंश से है।

वैश्यः– वैश्य वर्ण का सम्बन्ध, कृषि, पशु पालन और व्यापार से सम्बन्ध माना जाता है, परन्तु पूर्व मध्यकालीन भारत में वैश्य इन सब से अलग ही था। आर.एस. शर्मा के अनुसार कृषि जो इस वर्ण से सम्बन्धित माना जाता था, वो उस समय में शूद्रों से सम्बन्धित था। पूर्व मध्यकालीन समय में यह माना जाता थ कि व्यापारिक गतिविधियां व्यापक रूप से समाप्त हो चुकी थी और यह माना जाता था कि यह समुदाय अपनी महत्वता बिल्कुल खो चुका था। इस सन्दर्भ में रणबीर चक्रवर्ती जैसे लेखक के अनुसार इस काल में वैश्य वर्ण की अपनी पहचान बन चुकी थी।

इस विषय में ऐसा विश्वास किया जाता है कि उन्होंने वाणिक समुदाय के साथ व्यापारिक गतिविधियों को बढाकर इस काल में अपनी अलग पहचान बनाई। पूर्व मध्यकाल में लिखित सामग्री के अनुसार व्यापारिक बस्तियों का प्रचार हुआ जो वानीग्राम के रूप में जाना जाता है, वह एक राजनैतिक शक्ति का केन्द्र भी माना जाता था।

शूद्रः ब्राह्मणों के सामाजिक दर्जे बन्दी के अनुसार शूद्रों के साथ व्यापक रूप से भेदभाव आपेक्षित था। कुछ लेखकों के अनुसार यह बात एक विरोधाभास बनकर सामने आई जो इस समीक्षा को व्यापक रूप से जटिलता का आभास करवाता है। इन लेखों में यह बात रोचक ढंग से उभर कर आई कि इस समय शूद्रों को गैर ब्राह्मण समुदाय के रूप में जाना जाता था। यह बात इस बदलते परिवेश में वर्ण

व्यवस्था की संरचना को समझने के लिए अत्यन्त आवश्यक था। यह तब ही सम्भव हो सका जब सभी वांछित सूचनाओं के आधार पर निष्कर्ष निकाला गया।

इस विषय में यह बात स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आती है कि शूद्र समुदाय व्यापक रूप से भिन्न समुदाय था। जिसमें अधिकत्तर कृषि मजदूर, छोटे किसान, कारीगर व हाथ से कार्य करने वाले नौकर व अन्य लघु कर्मचारी इत्यादि सम्मलित थे। इन समुदायों में व्यापक रूप से वृद्धि होने पर ब्रह्मव्रत पुराण, प्रकाश यादव का वैजयन्ती और हेमचन्द्र का अभिधना चिन्तामणि के नामों से जाना जाता था।

आर.एस. शर्मा के अनुसार जब विभिन्न ब्राह्मण समुदायों में भूमि वितरण के समय उच्च कोटि के ब्राह्मणों ने यह बात रखी कि कौन से ब्राह्मण शुद्ध ब्राह्मण हैं और कौन से अशुद्ध ब्राह्मण हैं। इसी वर्गीकरण में ब्राह्मणों ने सब्रास, भील पुल्डिास और अन्य बात का मान दण्ड बनाने के बाद शुद्ध और अशुद्ध ब्राह्मणों का वर्गीकरण किया गया था। शर्मा ने इस परिवर्तन को विशेष व्यवसाय से जुड़े समुदायों के साथ भी इस वर्ण व्यवस्था को जोड़ा जैसे नपिता, मोदका, ताम्बुलिका, स्वर्णकार सूत्रकार आदि। शुद्ध और अशुद्ध के मानदंड के आधार पर अनेक व्यवसायों की व्याख्या करते हुए मनु शर्मा ने दो भागों में विभक्त किया है– सत्त शुद्ध और असत्त शुद्ध। इसी प्रकार आगे चलकर इसके दो भाग हैं– भोज्यान्ना (जो भोजन तैया किया जाता है, वह ब्राह्मण द्वारा ग्रहण किया जाता है) तथा अमोज्यान्ना जो इसका विपरीत है।

कायस्थः कायस्थों को प्रायः कर्णों का पयार्यवाची माना जाता रहा है। जैसा कि क्लार्क ने ऐतिहासिक पूर्व काल में बताया था। जैसा कि इस काल में यह केवल राजस्व तथा भूमि के निरन्तर हस्तातंरण के सन्दर्भ में देखा गया है। जैसा कि पूर्व–मध्य कालीन समय में लेखकों तथा रिकार्ड धारकों को इन कार्य में लगाना आवश्यक था, जो भूमि सम्बन्धी रिकार्ड तथा गांवों से धीरे–धीरे भूमि राजस्व जुटाना अति आवश्यक था। 900ई0 से पहले किसी एक जाति की विशेषता को दिखाना

आवश्यक नहीं था। यह केवल उन व्यवसायों से जुडे विभिन्न वर्णों व सामाजिक समूहों से लिया गया था।

इस सन्दर्भ में यह बात देखने में आई कि नौवीं शताब्दी तथा इस से आगे कालान्तर में यह देखा गया कि बहुत से खानदान जैसे वल्लभ, गौड़, मथुरा, वत्स या श्रीवास्तव जो कायस्थों के विभिन्न गौत्र हैं, वह कई प्रदेशों में बसते गए। जब वे समूह के रूप में विकसित हुए तो उन्हें जाति के रूप में जाना गया और विशेष जाति के गुणों के कारण अपनी पहचान बनाई। यह वह समय था जब जातियों की पहचान एक विशेष पंक्ति के विकसित होने के लिए की जाति थी। इस समय के अन्तिम दौर में शक्तिकरण तथा विशेष स्तर को ग्रहण करने पर गैर ब्राह्मण समूह के रूप में बंगाल में उभरते नजर आये। इस विषय में यह बात भी उभर कर सामने आई कि शक्ति का दुरूप्योग करने तथा घोटालों में लिप्त होने के कारण कल्हन ने इसे कायस्था सर्प पदम या साँप कहकर वर्गीकरण किया। शक्ति के सन्दर्भ में यह बात ब्राह्मणों को अखरनी निश्चित थी क्योंकि इससे पहले समाज की विभिन्न शक्तियों के आयाम पर केवल ब्राह्मणों का ही अधिकार होता था।

इस पूर्व मध्यकालीन उतरी भारत में जाति वर्ण व्यवस्था का अगला समुदाय वैद्य या अम्बास्था था, जो ब्राह्मणों की पांडुलिपियों में एक तनाव का कारण बना। इस विषय में संक्षिप्त समीक्षा की गई है।

वैद्य या अम्बास्थाः पूर्व मध्यकालीन भारत में आर्युवैदिक चिकित्सा का विकास होना प्रारम्भ हो गया था और चिकित्सा का अध्ययन तथा इलाज पर पड़ा धब्बा कुछ न कुछ दूर हुआ। इसके लिए कई उदाहरण है, जैसे आरोग्यशाला स्थापित हुई, जो ब्राह्मणी मठों तथा बुद्ध विहारों में इन केन्द्रों की स्थापना हुई। इस प्रकार पूर्व मध्यकाल में उत्तर भारत में चिकित्सा विज्ञान में भ्रान्तियां दूर करके इस वैधिक

e-ISSN: 2348-6848
p-ISSN: 2348-795X
Volume 04 Issue 15
November 2017

विचारधारा को इस काल की अग्रणीय सेवाओं में ला खड़ा किया। यह वैद्यिक पद्धति आज भारत में एक अग्रणीय स्थान प्राप्त कर चुकी है।

अछूत व्यवस्थाः उतरी भारत में पूर्व मध्यकाल में अछूत व्यवस्था जो अस्वच्छ सेवाऐं मानी जाती थी, उन्हें जनसंख्या के इस भाग को अछूत की संज्ञा दी गई थी। ये अस्वच्छ सेवाऐं, इस जनसंख्या के विशेष वर्ग द्वारा दी जाती थी। इस समाजिक समूह को एजियाज का एक निम्न दर्जा दिया गया। कालान्तर में ये शूद्र कहलाए। इन शूद्रों में राजकां, कारमकारा, नट, कैईवाता, मेदा और भील थे। यहां तक कि इन मे से कई इनसे भी नीचे के समूह थे जिमसें चाण्डाल, हाडी, डूम इत्यादि। अस्पर्शयता का विचार की धारणों तथा इसका लोक व्यवहार इस काल में चरम सीमा तक पहुंच चुकी थी। जब अन्तयाजा समूहों विशेषकर कण्डाला, व डूम जातियों से जुडे लोगों को अपेक्षाकृत बहुत प्रताड़ित किया जाता थ।

इस काल में हम यह देखते हैं कि ग्रामीण क्षेत्रों में तालाब इत्यादि के प्रयोग करने पर ग्रमीण वातावरण व्यापक रूप से तनावपूर्ण हो जाता था। कई साक्ष्य बताते हैं कि चाण्डालों को गांव की सीमा पर बसाया जाता था। बात यहाँ तक थी अन्यादा समुदाय के किसी व्यक्ति को शूद्र का साया भी पड़ जाता था तो उसे पुनः पवित्र होने के लिए सांस्कारिक पूजा पाठ करनी पड़ती थी। इस सन्दर्भ में आरण्य का जिक्र करना भी आवश्यक है। आरण्य वेा थे जो वनों में घुम्मकड़ों का जीवन व्यतीत करते थे। कथासारिका सागर में यह बात व्यापक रूप से रूचिकर उभरकर सामने आई है कि भील, पुलिंद और साब्रास जो विध्यां के वनों में विचरते थे। ये सभी यधि राज्य की सीमाओं से बाहर रहते थे परन्तु राज्य की रीढ़ की तरह शक्ति का केन्द्र बिन्दु कहलाता था। अतः हम देखते हैं कि उत्तर भारत के मध्यकालीन युग में वर्ण व्यवस्था का विकास राज्य की धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक व आर्थिक शक्तियों के समागम के कारण हुआ प्रतीत होता है।

निष्कर्षः इस शोध पत्र में मध्यकालीन (700 से 1200ई०) के मध्य के समय में भारतवर्ष के उत्तरी भारत के विभिन्न प्रदेशों में जाति व वर्ध व्यवस्था के विकास की दशा एवं दिशा की समीक्षात्मक व्याख्या की गई है। इस सन्दर्भ में कई इतिहासकारों ने अपने–अपने शोध के आधार पर कई निष्कर्ष निकाले हैं, जिसके फलस्वरूप पूर्व मध्यकालीन, उत्तरी भारत में जाति व वर्ण व्यवस्था का विभिन्न जातीय एवं वर्ण कारकों का कारण प्रभाव सम्बन्ध की व्याख्या प्रसंग सहित की गई है। जैसा कि कई इतिहासकारों ने इस वर्ण व्यवस्था के उद्‌गम, विकास, विभाजन एवं प्रभाव की समीक्षा उससे सम्बन्धित नस्ल से भी जुड़े हैं। कालान्तर में वर्ण व्यवस्था का मुख्य आधार उसका आधारभूत में समय के साथ व्यापक परिवर्तन हुआ जो इस बात की निरन्तरता तथा परिवर्तन की स्थिति को सांकेतिक करता है। अतः ब्राह्मणों में अलगाव या निषेद का सिद्धान्त सर्वप्रथम शूद्रों पर फिर अन्य वर्णों पर क्रियान्वित किया गया है। जिसके फलस्वरूप जाति का प्रादुर्भाव हुआ था जो वर्तमान समय तक प्रचलित है। यह वर्ण व्यवस्था विशेषकर ग्रामीण परिवेश में समाज का अभिन्न अंग है। यह व्यवस्था आज भी भलीभांति ताना–बाना युक्त, संगठित एवं जुड़ी है, जो इस वर्ण व्यवस्था की धरोहर को संजोकर रखे हुए है।

सन्दर्भ सूचीः

- Chattpadhya (1994), “The making of Early Mediveal India”, Oxford University Press, Delhi.
- Chaudharym A.K. (1971), ‘Early Mediveal Age’, Sanjeet Publication, Nai Sarak, Delhi .
- Chauhan, Gyan Chand (2003), “Economic History of Early Mediveal North India”, Atlantic Publishers, New Delhi.
- Ray, H.C. (1978), “Social Cultural and Economic History of Medival India”, Surjeet Publications, Nai Sarak, Delhi.

- Sharma, R.S. (1993), "Social Change in Early Mediveal India: Circa AD: 500-1200, People Publishing House, N. Delhi.
- Sharma, R.S. (2006), India's Ancient Past, Oxford India Press, New Delhi.
- Satish Chander (2006) Rajnaitik Smaj and Sanskriti, Surjeet Publishers, Delhi.
- Singh, Upender, (2006), A History of Ancient and Early Mediveal India from Stone Age to 12th Century, Pearson Education, New Delhi.